शोध संचयन
A Refereed Research Journal
And a complete Periodical dedicated to
Humanities & Social Science Research
ISSN 0975 1254 (PRINT)
ISSN 2249-9180 (ONLINE)
www.shodh.net
Vol. 14
Issue 1&2
15 July 2023

'अपनी जमीं अपना आसमां' में अभिव्यक्त भारतीय समाज

बीज शब्द :

अपनी जमीं अपना आसमां, भारतीय समाज, जाति व्यवस्था, आत्मकथा, दलित स्त्री

सारांश– हिन्दी साहित्य में 'आत्मकथा' लेखन का इतिहास अधिक पुराना नहीं है। दलित साहित्य में तो और भी नया है। दलित आत्मकथाएं समाज का प्रामाणिक दस्तावेज एवं आईना हैं। स्मृतियों की धरोहर बचाए रखने, अतीत को समझने, समुदाय की चित्तवृत्तियों का प्रतिबिम्बन करने और स्वस्थ लोकतांत्रिक समाज को गढ़ने में इन आत्मकथाओं की महती भूमिका से इंकार नहीं किया जा सकता है। आत्मकथाओं के केंद्र में लेखक का निजी जीवन होता है, समाज उसके साथ चलता है। 'अपनी जमीं अपना आसमां' आत्मकथा में रजनी तिलक ने अपने संघर्षमय अनुभवों का विस्तृत बयान किया है, साथ ही महिलाओं के अधिकार, समानता, स्वावलंबन के लिए आवाज उठाई है। यह आत्मकथा एक ओर महिलाओं का आत्मबल बढ़ाती है तो दूसरी ओर अधिकार प्राप्ति के लिए जूझने की प्रेरणा भी देती है। एक स्त्री होने की पीड़ा एवं दलित जीवन की विसंगतियों को अभिव्यक्त करने मे रजनी तिलक सफल रही हैं। इसलिए यह दलित साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण रचना है।

*****

पुष्पेंद्र सिंह, शोध छात्र
हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

प्रो. योगेंद्र प्रताप सिंह
हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

'अपनी जमीं अपना आसमां' में अभिव्यक्त भारतीय समाज

भारतीय समाज के 'विभिन्नता में एकता' वाले तथ्य को सदैव महिमा मंडित किया जाता रहा है। भारतीय समाज में 'विभिन्नता में एकता' है और इसी लहजे में आगे कहा जा सकता है कि यहाँ 'एकता में विभिन्नता' है। इस तथ्य के कई पहलू हो सकते हैं, लेकिन एक पहलू वह है जिसे लम्बे समय से नजरअंदाज किया जाता रहा है, वह पहलू है कि लगभग पिछले पांच हजार वर्षों से यह समाज खंडित रहा है और आज भी है। गर्व की अनुभूति इस तथ्य पर की जा सकती है कि खंडित होकर भी किस भाँति इस समाज ने अपने आपको बनाए रखा। इस समाज को कुछ शक्तियां या कहिए कुछ ताकतें या संस्थाएं बराबर कमजोर करती रही हैं और कुछ ऐसी संस्थाएं भी हैं, जो इसे बनाए रखती हैं और सदैव बनाएं रखना चाहती हैं। भारतीय समाज परिवार, जाति, धर्म, अर्थ, भाषा और बोली जैसे संरचनात्मक आधारों के साथ ही मनोगत आधार पर भी बँटा हुआ है। मनोदशात्मक आधार पर बँटे समाज को एकीकृत करना दुर्लभ कार्य है। यह सत्य है कि एक समाज में लोग समान होते हुए भी विविधतापूर्ण होते हैं। शिकारी, मछुआरे, अविष्कारक, संगीतज्ञ, चिकित्सक ऐसे कई लोग हैं, जो अपना-अपना पेशा करते हैं। इनमें कोई हीन-भावना नहीं होती। लेकिन यह सभी समान होकर भी अपने-अपने पेशे में अलग-अलग हैं। दुनिया भर में लोगों में किसी न किसी प्रकार का स्तरीकरण अवश्य होता है। समता का अर्थ विभिन्नता के बिना नहीं हो सकता और इसी संदर्भ में हमें जाति व्यवस्था को भारतीय समाज के स्तरीकरण के रूप में देखना चाहिए।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था की प्राथमिक इकाई जाति है, यह जाति चाहे कागजों में न हो, पर आनुभाविकता के धरातल पर यह बराबर स्थिर है, विद्यमान है। इसे किसी भी तरह नकारा नहीं जा सकता। जाति व्यवस्था के इस स्तरीकरण में चार स्तर हैं। यह एक सोपानिक व्यवस्था है। इस सोपान के दो बहुत बड़े स्तंभ हैं पवित्र और अपवित्र। यह स्तरीकरण क्षैतिज न होकर ऊर्ध्वाधर है। सबसे निचले पायदान पर जो वर्ग है, वो दलित है, वह अपवित्र है, उसे यह अधिकार नहीं है कि वह अन्य पायदान पर जा सके। दलित चेतना के साहित्य में अभिव्यक्ति का आरम्भ आत्मकथन से होता है और दलित लेखन के इस व्यापक फलक पर दलित स्त्री साहित्यकार भी अपनी सशक्त अभिव्यक्ति क्षमता सहित उभारती हैं। यह सशक्त अभिव्यक्ति क्षमता साहित्यिक कृति के संदर्भ में ही नहीं, बल्कि एक सामाजिक इतिहास को प्रस्तुत करने के संदर्भ में भी है। दलित स्त्री की आत्मकथा संघर्ष और सृजन की आत्मकथा है। यह सदियों की व्यथा है, जो आत्मानुभूति का हिस्सा बन कर सारे व्यक्तित्व में घुलती रही है, निष्कासन और निष्कृति की अनुभूति, व्यर्थता बोध से व्यथित होने की अनुभूति, उपेक्षित और पद दलित होने की अनुभूति, जैसे भीतर ही भीतर कोई छटपटाता हो, घुलता हो और असहाय-विवश होने के बोध से थक-थक जाता हो। वर्ग, वर्ण और लिंग के रूप में तिहरा अभिशाप झेलता हो। बरसों से दबा घुटा यह अभिशाप, यह त्रास, जिसे अब तक वाणी नहीं मिली थी, वह अब दलित-स्त्री की कलम से अभिशप्त होकर उनकी व्यथा-कथा को सुना रहा है।

इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय समाज में जाति, वर्ण और लिंग आधारित संरचना द्वारा जिस सोपानिक व्यवस्था का निर्माण किया गया वह निरंतर शोषण की व्यवस्था को विकसित करती रही। इस व्यवस्था में स्त्री की स्थिति अत्यंत शोचनीय रही, जैसे-जैसे सभ्यता और संस्कृति को पितृसत्ता ने अपने हित में और अपने वर्चस्व में लिया स्त्री का स्थान समाज में दोयम दर्जे का होता गया। 'अपनी जमीं अपना आसमां' जैसी आत्मकथा इस वर्चस्वशाली समाज पर प्रश्न चिन्ह लगाती हुई, समाज के सामने यथार्थरूपी आईना रखती है, जिसमें दलितों के साथ किए जाने वाले सामाजिक अन्याय, असमानता, जातिगतभेदभाव, शोषण, अस्पृश्यता आदि का यथार्थ रूप देखने को मिलता है।

भारतीय सामाजिक संरचना में जाति-व्यवस्था एक ऐसे रबड़ के तंबू की तरह है जिसे जो चाहे उस ओर खींच लेता है। यह तंबू कुछ लोगों को छाया देता है, लेकिन देखने में बड़ा बेडोल हो गया है। कहीं एक और इसका कोना खींचा हुआ दिखता है, लगता है देर-सवेर यह कोना तंबू को फाड़ देगा। कहीं तंबू एकदम गुंबद की तरह ऊंचा हो गया है। ऐसा लगता है कि संपूर्ण जाति व्यवस्था एक घपला है, संविधान कहता है कि कानूनी दृष्टि से और कम से कम सरकार की निगाह में जाति जैसी कोई व्यवस्था नहीं है। कागजी तौर पर यह व्यवस्था भले ही न दिखाई दे, पर समाज के केंद्र में इसी की सत्ता है। व्यवसाय, खान-पान, रहन-सहन, परिवेश सब कुछ इसी से निर्धारित हो रहा है। 'अपनी जमीं अपना आसमां' की लेखिका रजनी तिलक अपनी आत्मकथा की शुरुआत ही इस कथ्य से करती हैं- 'जाति की पहचान भारतीय समाज में पिस्सू की तरह चिपका हुआ है। भारत के किसी भी कोने में चले जाओ यह पहचान साये की तरह आप से

चिपकी रहती है। आपकी पहचान जन्मगत जाति से होती है। जन्म से मिली जाति आपको विरासत में देती है- आपका पेशा। कोई भी बच्चा जिस जाति और जिस परिवार में पैदा होता है उसी पारिवारिक पेशे के अनुरूप ही वह ढल जाता है। अंततः पारिवारिक पेशा ही उसका भविष्य बन जाता है। '[1]ये पेशा उस की सहज प्रवृत्ति न होकर के उसके ऊपर एक बोझ होता है, जिसे वह आजीवन ढोता रहता है। यह बोझ तब और बढ़ जाता है, जब एक विशेष जाति के साथ-साथ आप एक विशेष लिंग का भी प्रतिनिधित्व करते हैं, आप से यह अपेक्षा की जाती है कि आप अपनी विरासत को न सिर्फ संभालेंगे, अपितु आत्मसात भी कर लेंगे। इस तथ्य पर ध्यान केंद्रित करती हुई रजनी तिलक लिखती हैं- 'लड़की होने की भी एक पारंपरिक विरासत है, जन्मजात पेशा घरेलू काम जिसे वह जन्म से ही आत्मसात करती है जैसे बर्तन सफाई, कपड़ेधोना, झाड़ू पोछा या खाना बनाना घरेलू कामों के साथ घर की देखभाल करना। सच्चाई यह है कि देश, समाज और घर जाति और लिंग के कारण तय होती है उस की सामाजिक हैसियत।'[2]

भारतीय समाज में स्त्री और पुरुष की हैसियत में बहुत अंतर रहा है। यह अंतर समाज के हर स्तर पर दृष्टिगत होता है, काम के बंटवारे से लेकर खुद पर अधिकार तक। दलित समाज में नारी पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर चलती है, अतः हम कह सकते हैं कि दलित समाज में स्त्री को समानता का अधिकार प्राप्त है। वह भी खेत में अपने पति के साथ काम करती है, सड़क पर रेडी डालती है, भवन निर्माण में मजदूरी करती है, इसी तरह के अनेक काम झाड़ू लगाने से लेकर मैला उठाने तक के काम वह करती है। इस काम को करने के साथ उसे बाहर निकलने का अधिकार तो मिलता है, लेकिन साथ ही दोहरा शोषण भी शुरू हो जाता है। बाहर के काम में हाथ बँटा देने से वह घर की जिम्मेदारियों से मुक्त नहीं हो जाती, यह काम करना उसका मौलिक कर्तव्य है, जो सिर्फ उसे ही करना है, 'अपनी जमीं अपना आसमां' में कई ऐसे दृष्टांत हैं जिन्हें देखकर यह दुविधा होती है कि ये दिए गए अधिकार हैं, जरूरत हैं या शोषण का एक और तरीका। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्री के रूप में पैदा होते ही आपके साथ बहुत सी जिम्मेदारी जुड़ जाती हैं, जिसका जिक्र रजनी तिलक ने अपनी आत्मकथा में भी किया है - 'एक दलित लड़की पैदा होते ही मां बाप के श्रम की भागीदार हो जाती है। घर के काम में माँ के साथ जुट जाती है और अपने छोटे बहन-भाइयों का ख्याल रखती है। अगर वह मजदूर की बेटी है गरीब है तो वह समाज के लिए 'वस्तु' बन तृप्ति का माध्यम और 'साधन' बन जाना दोनों कृत्य ही उसके लिए ढाँचागत स्वीकृति लिए हुए है। समाज में इस बर्बर कृत्य के विरुद्ध न ही कोई सवाल कल था न आज है। नही कोई उलाहना, न कोई असंतोष। हमारे समाज के इस ढांचागत व्यवहार को न केवल स्वीकृति मिली है बल्कि इसे क्रमबद्ध लागू किया गया है। यही जन्मगत श्रम का बंटवारा जाति और लिंग, मान्यता प्राप्त लिये हुए है।'[3]

सन 1970 के दशक में समाजशास्त्री और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वीकार किया गया कि समाज में जेंडर का अस्तित्व है और यह माना गया कि इन दोनों में अंतर केवल लिंग का ही नहीं है, सामाजिक और सांस्कृतिक भी है। इस तरह के अध्ययन हमारे सामने आये जो बताते हैं कि लड़के और लड़की का सामाजिकरण विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा किया जाता है। संरचनात्मक दृष्टि से यह तथ्य भी सामने आया कि घर के काम काज में भी पुरुषों से पुरुषोचित काम लिया जाता है और स्त्रियों से स्त्रियोचित। लेकिन साथ ही भारत में स्त्रियों के पीछे हमारी कुछ जमी जमाई धारणा भी है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी हमारी इस धारणा में कोई अंतर नहीं आया है। जाति की सोपानिकता से देखें तो यह ज्ञात होगा कि स्त्रियों में भी यह सोपानिक व्यवस्था है। कुछ स्त्रियां बड़े घर की हैं, पांच सितारा होटल में जाने वाली हैं, मोटरकार और दुपहिया चलाने वाली हैं और बहुत स्त्रियां ऐसी हैं जो कारखाने में काम करती हैं, बीड़ी बनाती हैं, सिलाई करती हैं, लिफाफे बनाती हैं, मैला ढोती हैं और साग सब्जी बेचकर अपना गुजारा करती हैं और साथ ही घर को संभालती हैं। भारतीय समाज में स्त्रियों की विविधता अनन्य है और स्त्री नाम पर सभी स्त्रियों को एक ही तराजू में तुलना ठीक नहीं है। लेखिका जिस वर्ग से ताल्लुक रखती है, वह वर्ग हर स्तर पर पिछड़ा हुआ है। वहाँ मूलभूत सुविधाओं को प्राप्त करना भी जद्दोजहद का काम है। शौचालय और पानी को प्राप्त करने के लिए एक लम्बी लाइन लगानी पड़ती है। शिक्षा के लिए संघर्ष अलग स्तर का है। विद्यालय में भर्ती होने से लेकर नियमित उपस्थित होने तक हर कार्य दुष्कर है। स्त्री और पुरुष के कार्य बंटे हुए हैं। अपनी बस्ती की स्त्रियों और पुरुषों के कामों के बारे में बताते हुए लिखती हैं कि 'हमारी बस्ती के ज्यादातर मर्द बुरी आदतों के शिकार थे। अधिकांश मर्दों को शराब पीने की बुरी लत थी। कोई शराब बेचता था कोई जुआ खिलवाता था या सट्टा लगवाता था। औरतें मुंह अंधेरे काम करने चली जातीं। बच्चे कच्चे उठ कर खुद ही चूल्हे में कंडे लकड़ी लगा कर चाय बनाते और फिर गंदे कपड़ों में ही स्कूल चले जाते। इन बच्चों के पिता कभी उठ कर भी नहीं देखते

कि बच्चे स्कूल गए या नहीं।'[4]

भारतीय समाज में आधी आबादी के लिए तय किए गए कार्यों में रियायत नहीं है। यह हमें मछलीवालन बस्ती से लेकर सीलमपुर की बस्ती तक देखने को मिलता है। हाँ, कुछ कार्यों का विस्तार जरूर किया जा सकता है। आत्मकथा में ऐसे कई अंश है जिन्हें पढ़कर ये लगता है कि यह कैसी सामाजिक व्यवस्था है जहां एक के पास सिर्फ अधिकार है और दूसरे के पास सिर्फ कर्तव्य, अगर कुछ अधिकार दिए भी गए हैं तो सिर्फ कुछ कर्तव्यों की पूर्ति के लिए! स्त्री घर पर जूझ रही है, उसे घर की जिम्मेदारियों का निर्वहन करते हुए ही अन्य कार्य करने हैं। वह अपनी जिम्मेदारी से मुँह नहीं मोड़ सकती, जिम्मेदारी से मुँह मोड़ने का तात्पर्य है कि घर परिवार को छोड़ देना। पूरी सामाजिक व्यवस्था को नकार देना। रज्जो (रजनीतिलक) अपनी पूरी पढ़ाई घर की जिम्मेदारी को निभाते हुए ही करती है। उसके जिम्मे खाना, बर्तन, झाड़ू, पोछा से लेकर अपने छोटे भाई-बहन और बीमार माँ सबकी जिम्मेदारी है। अगर उसे पढ़ना है, तो पहले उसे इन जिम्मेदारियों को पूरा करना पड़ेगा। आस पड़ोस रिश्तेदार सभी के कहने पर भी रज्जो अपनी पढ़ाई नहीं छोड़ती। वह शिक्षा के महत्व को समझती है और उसे प्राप्त करने के लिए हर संघर्ष से गुजरने को तैयार है। वह अपनी आत्मकथा में लिखती भी हैं "हमारे रिश्तेदार मां को देखने आते और मुझसे पढ़ाई छोड़ने को कहते खासतौर से मेरी सगी मौसी मुझे बहुत समझाती कि अपनी मां की देखभाल कर ले रज्जो, पढ़ाई में क्या रखा है। मैं दबे स्वर में मौसी से कहती, मैं सब काम कर के ही तो पढ़ रही हूं... आप को मेरी पढ़ाई से ऐतराज क्यों है?"[5]

'अपनी जमीं अपना आसमां' सिर्फ रजनी तिलक के जीवन संघर्ष की ही कहानी नहीं है, यह कहानी उनसे जुड़े समाज के संघर्ष की भी है। जिसमें वे अपनी जमीं और अपना आसमां के साथ-साथ अपने समाज की जमीं व आसमां ढूढ़ने का प्रयास भी करती हैं। उनकी प्रेरणा स्रोत पौराणिक कथाओं के पात्र न होकर, उनके आसपास के लोग हैं। लेखिका की छोटी बहन अनीता को बचाने के लिए उनकी पड़ोस की भोथी दादी जो त्याग करती हैं, वह लेखिका की नजर में अनूठा है, उसकी तुलना किसी से भी नहीं की जा सकती। रजनी तिलक लिखती हैं कि "कहते हैं कि कृष्ण की उंगली कटने पर द्रोपदी ने अपने साड़ी के पल्लू को फाड़कर चिंधी को कृष्ण की उंगुली पर लपेटा था। किंतु द्रोपदी का त्याग मेरी भोथी दादी की तुलना में रत्ती ही नहीं है। क्योंकि दादी ने तो अनीता को बचा ने के लिए अपने घाघरे को ही तत्काल फाड़ दिया था। घाघरा फटने पर आर्थिक तंगी के चलते वह दूसरा घागरा खरीद नहीं सकती थी। किंतु दादी ने इसकी परवाह नहीं की। मेरी नजर में भोथी दादी ही सर्वश्रेष्ठ और प्रेरणाप्रद हैं। मेरे सामाजिक कार्य की प्रेरणा भोथी दादी भी निश्चित रूप से कहीं न कहीं हैं ऐसा मैं निसंदेह कह सकती है।" [6]

रजनी तिलक समाज की थोपी नैतिकता का निर्वहन तो करती हैं, लेकिन अपने तरीके से। जब बात अधिकार की आती है, तो वह अपने परिवार के विरुद्ध जाने में भी संकोच नहीं करतीं। वह अपनी लक्ष्मण रेखा का निर्धारण खुद करती हैं, जिस कारण विवाह के पहले कई वर्षों तक सोचती हैं और विवाह के निर्णय के बाद भी आने वाले दिनों के प्रति वे पूरी तरह आश्वस्त नहीं हो पाती हैं " अपने घर की देहरी लाँघ कर मैंने अपने हृदय से आनंद के परिवार को अपना लिया। मैं अपने साथ लेकर गयी थी अपना अपनापन, अपनी मेहनत, अपना प्यार, अपने विचार, समाज के प्रति अपनी प्रतिबद्धता और साथ में बैरन खून में समायी मेरी स्त्री-पुरुष समानता की सोच। दो प्राणी समाज-परिवर्तन के वाहक कई परंपराओं को तोड़ कर एक नए ढांचे की डोर में बंध गए। प्रेम की वह डोर... विश्वास की वो डोर... जो सभी ढांचों को लचीला कर दे, ऐसी डोर के साथ हम दोनों बंध गए। सुबह का उगता सूरज हमारा था... या हम अंधेरे की ओर बढ़ रहे थे इसका इल्म मुझे नहीं था...।"[7] 'अपनी जमीं अपनी आसमां' में एक खास किस्म की नैतिकता का स्वर व्याप्त है। स्त्री देह को शुचिता, विवाह-पूर्व संबंध, प्रेमाभिव्यक्ति का संकोच तो है ही, लेकिन लेखिका अपनी यौनिकता की स्पष्ट बात करती हैं उसे छुपाती नहीं। जिस समाज में वे पली बढ़ी हैं वहां दुपट्टा ओढ़ कर रहना, नजर झुकाकर बात करना और कम उम्र में ही जिम्मेदार हो जाना सिखाया गया है। बचपन से ही उन्हें आर्थिक स्तर पर परिवार की मदद करने का पाठ पढ़ दिया जाता हैं। लेखिका अपने समाज के बारे में बताते हुए लिखती हैं कि "हमारे मोहल्ले की औरतें गोबर थापने जाती थीं और साथ में अपनी लड़कियों को भी ले जाती थीं। लेकिन हमारी भाभी घर में ही रहकर कागज के लिफाफे बनाती थी। हम सब बच्चों ने भी लिफाफे बनाना सीख लिया था। हमारी मां मुंह-अंधेरे उठकर चूल्हा जलाती और सुबह सब को तैयार करके स्कूल भेजती। दोपहर का खाना बनाकर, कपड़े धोकर, साफ-सफाई के घरेलू काम निबटा कर काम करने बैठ जाती। हम स्कूल से आकर खाना खाकर उनके साथ लिफाफे बनाने बैठ जाते। हमारे घर का हाल था आमदनी कम, खर्च ज्यादा।

घर की आमदनी बढ़ाने में हमारी भाभी अपनी भूमिका निभा रही थी।"[8]

भारतीय समाज में धर्म की व्यापकता जीवन के सभी क्षेत्रों में दिखायी देती है। समाज का संपूर्ण जीवनवृत्त धर्मविधि और पूजा-पद्धति और उपासना के इर्द-गिर्द घूमता है। भारत में कोई भी दिन सामान्य नहीं जाता, हर दिन का कुछ विशेष प्रयोजन होता है। कभी किसी का जन्मदिवस मनाना होता है, तो कभी ब्याह शादी और कभी मृत्यु। तिथि-त्यौहार, व्रत-उपवास तो आते ही रहते हैं। 'अपनी जमीं अपना आसमां' आत्मकथा में धर्म, रीति रिवाज और त्यौहारों की चर्चा बार-बार होती है। निम्न जातियों में जन्म का उत्सव किस प्रकार मनाया जाता है, वे लोग किस तरह धन के अभाव में भी अपनी परम्पराओं को पूरा करने की जद्दोजहद करते हैं। किसी रीति रिवाज को पूरा करने के बाद किस तरह घर में खाने के लाले पड़ जाते हैं। निम्न जाति के समाज में किन-किन अंध विश्वासों ने अपना डेरा डाल रखा है। इन अंध विश्वासों से रजनी तिलक का सामना बार-बार होता है। वे अपने घर के इस माहौल पर दृष्टि डालते हुए लिखती हैं -"रोना सुनकर भोथी दादी जो अब हमारे ही घर के एक कोने के कमरे में रह रही थी दौड़कर आयी, उसने अनीता को मेरी गोद से छीन लिया और अपने पहने हुए घाघरे को बीच से फाड़ डाला और फटे घाघरे में से अनिता को निकाल दिया गया जैसे उन्होंने जीवन रक्षक कोई टोटका किया हो। झट से सवा रुपया अनीता पर उतार कर दादी ही पचौटे वाले बाबा से माफी मांगते हुए बोली, बाबा तुझे पता है घर में फाका चल रहा है, तू इन बच्चों पर दया कर, तेरे द्वार पर अगली होली पर सब जरूर जायेंगे। अनीता जो आंखें न टेर रही थी, अब उसकी आंखें स्थिर हो चुकी थी। परंतु उसकी एक आंख एक तरफ टेड़ी सी हो गई थी। यह पूजा-पाठ, परंपराएँ रिवाज देखकर मेरा बाल मन डर गया। ये बाबा पचौटे वाला कौन था? उसकी क्या कहानी थी? क्या वो हमारा भगवान था? तब भाभीजी दुर्गा मां की रोज पूजा करती हैं वो क्या है? भाईजी शिवशंकर के भक्त थे वे बम-बम भोले की तान के दीवाने थे, फिर ये तीसरे देवता बाबा पचोटे वाले कैसे दीखते हैं? उनकी फोटो या मूर्ति हमारे घर में क्यों नहीं है। मैं सोचती रही। "[9]

अपनी आत्मकथा में रजनी तिलक बार-बार इन रीति रिवाजों, त्योहारों और परम्पराओं पर प्रश्न चिन्ह लगाती हैं। इनके औचित्य पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए उसकी प्रासंगिकता भी पूछती हैं। होली हिंदू धर्म में उत्सव के साथ मनाया जाने वाला त्यौहार है, रजनी तिलक होली जैसे त्यौहार की प्रासंगिकता पर ध्यान केंद्रित करते हुए लिखती हैं, "हम अब होली की मस्ती के साथ-साथ हिरणाकश्यप की हार की गाथाओं- होलिका दहन के बाद प्रह्लाद भगत के बच जाने के प्रतीकात्मक उत्सव के साथ स्वयं को एकाकार कर लेते थे। तब हम यह न जानते थे कि होलिका नाम की स्त्री को जला देने के बाद क्यों ढोल नगाड़े बजाये जाते हैं या भक्त प्रह्लाद ईश्वर के प्रताप से सुरक्षित बचाने की खुशी में हैं। दोनों घटनाएं एक साथ घट जाने की वजह से एक हिंसक दृश्य को देखकर खुशी से पागल होकर नाचना हमारी कौन सी संस्कृति है? क्या हम इंसान हैं? हर वर्ष यह हिंसक घटना खुलेआम चौराहों पर दोहराई जाती है होलिका दहन का उत्सव स्त्री की अवमानना है इसी का परिणाम है कि हमारे देश में औरतों को जला देना इतना आसान है कि बहुत दहेज ना लाइट जलाकर मार दो यह उत्सव नहीं सांस्कृतिक युद्ध है जो हर वर्ष दोहराया जाता है।"[10]

भारतीय समाज एक अनेकत्व समाज है और संविधान प्रत्येक जातीय समूह को अपनी पहचान बनाएं रखने का अधिकार देता है। हमारे देश में लगभग 4635 जातियाँ हैं, वे सभी एकीकृत नहीं हैं। जातियों में सोपानिक व्यवस्था है। प्रत्येक जाति की अपने आप में एक अलग दुनिया है, उस की एक पृथक पहचान है। भारत जैसे धर्म निरपेक्ष राज्य में सभी जातीय समूह लम्बे समय से एक साथ रहते आ रहे हैं। इस ऐतिहासिक निकटता के होते हुए भी इन समूहों में किसी न किसी तरह का तनाव अवश्य बना रहता है। कुछ समूहों में तो यह तनाव ऐतिहासिक ही दृष्टिगत होता है। उदाहरण के लिए हिंदू और मुसलमान, ये प्राय: तनाव की स्थिति में ही रहते आए हैं। रजनी तिलक जिस माहौल में रहती है वहाँ हिन्दू और मुस्लिम का मध्य सौहार्द का माहौल है। इधर हाल के वर्षों में छोटे धार्मिक समूहों में भी तनाव पैदा होने लगा है। हिंदू और सिख, हिंदू और ईसाई आपस में लड़ने-झगड़ने लगे हैं। गौरतलब है कि इन लडाईयों का मुख्य कारण राजनीतिक हस्तक्षेप है। रजनी तिलक अपनी आत्मकथा में उस दौरान हुए हिन्दू और सिखों के मध्य साम्प्रदायिक तनावों का जिक्र करते हुए लिखती हैं- "मैंने एक महिला से पूछा कि ट्रेन क्यों नहीं आ रही, तो उसने बताया कि दिल्ली में इंदिरा गांधी की हत्या हो गई है। हत्यारे सिख थे। हत्या के बाद जन ताने सिखों पर हमला बोल दिया। लूट पाट मच गयी। मैं सुन कर डर गयी।.... 1985 के मार्च के महीने में मैं फिर से ऑफिस के काम से दिल्ली आयी और जब अपने घर पहुंची तो पता चला कि सरदारनी आंटी विधवा हो चुकी थी, उनके पति के साथ-साथ उनके बड़े बेटे को भी लोगों

ने जलाकर मार दिया। छोटा बेटा काका और बड़ी बेटी के साथ आंटी उदास-उदास सी रहती थी। जब मैं उनसे मिलने गई तो वह बहुत रोयी।" [11]

हम देखते हैं कि रजनी तिलक की 'अपनी जमीं अपना आसमां' आत्मकथा में भारतीय सामाजिक व्यवस्था के सभी तत्व अनेकता में एकता और एकता में भी अनेकता के रूप में विद्यमान हैं। इसमें एक तरफ जहां ऐसा समाज है, जिसमें सामाजिक अपमान, तिरस्कार, भेदभाव, अन्याय, पिछडापन, अंधविश्वास, जादू टोना, झाड़-फूंक, अशिक्षा, अज्ञानता, भूत-प्रेत, पाखंड, कुरीतियां, भूख, गरीबी, रोग, श्रम और शोषण है, तो दूसरी तरफ इन सबको नजर अंदाज कर इन सबसे ही जूझकर निकलते लोग, जो किसी भी परिस्थिति में हार नहीं मानते, संघर्ष शील बने रहते हैं, नए प्रतिमानों को गढ़ते हैं और पुरानी दकियानूसी परंपराओं पर प्रश्न चिन्ह लगाते हैं। अंततः हम यह कह सकते हैं कि रजनी तिलक की आत्मकथा एक व्यक्ति की आत्मकथा न होकर पूरे समाज की व्यथा कथा है। भारतीय समाज जहाँ एक तरफ ग्रामीण परिवेश है, तो दूसरी तरफ शहरी परिवेश, जहाँ जाति व्यवस्था जड़ों में विद्यमान है, जो भारतीय सामाजिक संरचना के सोपानिक क्रम का निर्माण करती है। इस सामाजिक संरचना के सोपानिक क्रम में कभी-कभी जाति वर्ग से अधिक निर्धारक लगती है। रजनी तिलक अपनी आत्मकथा में नारी अस्मिता, अशिक्षा, भूख, गरीबी, धर्म आदि जैसे सभी सामाजिक मुद्दों को उठाते हुए, उनसे संघर्ष करते हुए, एक बेहतर समाज के लिए संघर्षशील दिखती हैं।

संदर्भ ग्रंथसूची

1. रजनी तिलक, अपनी जमीं अपना आसमां, ईशा ज्ञानदीप, प्रथम संस्करण -2017, पृष्ठसंख्या-11
2. वहीं, पृष्ठसंख्या-11
3.वहीं, पृष्ठसंख्या-12
4. वहीं, पृष्ठसंख्या-45
5. वहीं, पृष्ठसंख्या-48
6. वहीं, पृष्ठसंख्या-32
7. वहीं, पृष्ठसंख्या-120
8. वहीं, पृष्ठसंख्या-42
9. वहीं, पृष्ठसंख्या-31
10. वहीं, पृष्ठसंख्या-34
11. वहीं, पृष्ठसंख्या-113

सहायक ग्रंथसूची

1. डॉ. एन. सिंह, दलित साहित्य के प्रतिमान, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2012
2. शंभूलाल दोषी, प्रकाशचंद्र जैन, भारतीय सामाजिक व्यवस्था, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2015
3. ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र, राधा कृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, द्वितीय संस्करण-2015
4. ओम प्रकाश वाल्मीकि, मुख्यधारा और दलित साहित्य, सामायिक प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2019
5. बजरंग बिहारी, दलित साहित्य रू एक अंतर्यात्रा, नवारूण प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2015
6. डॉ. एन. सिंह, दलित साहित्य के प्रतिमान, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2012
7. मोहनदास नैमिशराय, हिन्दी दलित साहित्य, साहित्य अकादमी प्रकशन, प्रथम संस्करण-2018

पत्रिका

8ण्गरिमा श्रीवास्तव, बनास जन साहित्य-संस्कृति का संचयन, अकिंचन स्वरों की महाप्राण पुकार रू दलित स्त्री आत्म कथाएं, अंक -जून 2021